बचपन और साहित्य

कृष्ण कुमार

मेरे लिए बहुत संतोष और प्रसन्नता का विषय है कि इस नई संस्था ने आज की शाम संभव बनाई है। इस संस्था का नाम इसके विषय के अनुकूल ही है। बाल-साहित्य के क्षेत्र में अभी हम वहां नहीं हैं कि जैसे सितार जैसा कोई नाम रख सकें। इकतारा ही संभव है क्योंकि एक बड़ी और ऐतिहासिक शुरुआत है कि बाल-साहित्य के संदर्भ में चिन्ता को व्यक्त करने और कुछ रचने के लिए एक संस्था अपने को समर्पित कर रही है। आज की शाम जिस विषय पर अपनी बात आपके सामने रख रहा हूं, इस विषय के आप कह सकते हैं, तीन मुख्य हिस्से होंगे। जिस कपड़े पर यह कढाई करने जा रहे हैं वह थोड़ा सा अदृश्य कपड़ा है। यह कपड़ा है बचपन का जो सामाजिक जीवन में इतना समाया रहता है और समाज की संस्थाओं में समाया रहता है कि उसको अलग करके देखना और ऐतिहासिक, राजनैतिक या आर्थिक परिस्थितियों के आइने में बचपन में हो रहे परिवर्तनों को जांचना काफी मुश्किल काम होता है क्योंकि हमारी चेतना इतने पूरे परिदृश्य में समाये हुए एक जीवन के एक चरण को अलग करके नहीं देख पाती। बच्चे हमारे बहुत ज्यादा करीब होते हैं इसलिए यह कपड़ा जिस पर आज यह कढाई करने का मेरा इरादा है, आपको लगातार ध्यान में रखना होगा कि यह कपड़ा थोड़ा झीना भी है क्योंकि यह बार-बार आंखों से ओझल हो जाता है और एक तरह से कई बार अदृश्य ही हो जाता है। तो कढाई क्या होगी? कढाई होगी तीन पत्तीयां। इनमें से एक पत्ती जिससे हम शुरुआत करेंगे वह है इस शब्द की मीमांसा 'बचपन' और दूसरी पत्ती उस छाया के बारे में है जिसमें हमारे समय का बचपन अनिवार्य रूप से बीतता है वह है शिक्षा। राज्य की भी उस पर छाया है, निजी पूंजी की भी छाया है, एक समूची ऐतिहासिक विरासत की छाया है और वह छाया इस समय बहुत गहराती जा रही है। हम सबके जीवनकाल में जो वक्त हो, लेकिन यह महसूस होता है कि शिक्षा को समझने के लिए अतीत में काफी झांकना पड़ता है कि हम कैसे इस जगह तक पहुंचे। इसलिए दूसरी पत्ती आप कह सकते हैं 'बचपन और साहित्य के संबंधों को समझने के लिए शिक्षा की मैं काढूंगा और तीसरी पत्ती 'साहित्य' जिस पर हम इन दो हिस्सों पर से गुजर कर पहुंचेंगे।

आईये, बचपन से अपनी बात शुरू करें। बचपन सामाजिक जीवन के भीतर रहने वाली एक ऐसी स्थिति है जिसको अलग से कोई व्यक्त नहीं कर पाता। अपने समय के दस्तावेजों से, अपने समय में आती हुई खबरों से एक अंदाज सा लगता है हमको कि हमारे बीच बचपन की क्या स्थिति है। बच्चे तो हमें दिखते हैं और हम बच्चों से संबंध भी बनाते हैं लेकिन बचपन एक ऐसी अवधारणा के तौर पर हमें अलग से दिखाई नहीं देता। न ही उसका अलग से कोई इतिहास हमारे समाज में रचा गया है अन्य समाजों की तरह से हम कहें कि हमारे पास बचपन का इतिहास है। जैसे यूरोप के बचपन का इतिहास फिलेपाईज ने दुनिया के सामने प्रस्तुत किया तो वह एक क्लासिक बन गया कि पिछले चार शताब्दियों में यूरोप का बचपन किस प्रकार रचित हुआ। हम आज उस स्थिति में नहीं है कि हम कह सकें कि हां हमारे पास भी प्राचीन से ना सही पर कम से कम पिछले दो-तीन सौ सालों से ही आज तक का बचपन का कोई इतिहास है और जिसमें हम बदलती हुई परिस्थितियों के तथ्यों के प्रकाश में बचपन को समझ सकते हैं। इस स्थिति में हमारे पास यही विकल्प

है कि हम अपने समय में थोड़ा-बहुत झांककर अलग से कोशिश करें समझने की कि बच्चे जिस अवधि से गुजरते हैं उसकी प्रकृति आज कहां है। इसमें तो कोई शक नहीं कि यह बहुत महत्वपूर्ण बदलावों का दौर है मिसाल के तौर अगर आप आर्थिक परिस्थितियों के आइने में झांके तो भारत के करोड़ों बच्चों के लिए इधर के कोई एक-दो दशक ऐसे दशक हैं जिनमें एक नए कानून के आने से बच्चे मजदूरी से किसी हद तक हटकर स्कूल में पहुंचे हैं। और इसका आशय ही यह है कि वह परिस्थिति जो बहुत शरू से ही बच्चे को मजदूर बना देती थी वह परिस्थिति शायद थोड़ी-सी कमजोर पड़ी है। यह कोई सामान्य घटना नहीं है और आपको मालूम ही होगा कि जिस कानून का हवाला मैं यहां दे रहा हूं यह कानून करीब सौ साल के संघर्ष के बाद बना है या सौ साल के इंतजार के बाद बना है। इस इंतजार से ही मामूल चलता है कि भारत के समाज को ऐसा कानून बना सकने में कितना संकोच हुआ है और इस अवसर पर जरूर हमें इतिहास का थोड़ा सा संदर्भ लेना चाहिए। सन् 1911 आज से कोई एक सौ सात साल पहले गोपाल कृष्ण गोखले ने इंपीरियल लेजिस्लेटिव असेम्बली में वह पहला विधेयक बिल रखा था जिसमें उन्होंने उस समय कम्पल्सरी प्राईमरी एज्युकेशन जो उस समय उनके अनुसार चार साल की होनी चाहिए थी वह भी लड़कों के लिए प्रस्तावित करने का उनका विधेयक था। वह उस एसेम्बली में पास नहीं हो सका था। और आप उस समय के दस्तावेजों का अध्ययन करें तो आप देखेंगे कि उसको पास न होने देने में अंग्रेज शासकों की भूमिका नहीं थी। उसको पास न होने देने में मुख्य भूमिका थी भारत के बहुत बड़े जमीदारों की। जिनमें से कई के विचार उस बिल के प्रस्तुत किये जाने के मिनिट्स में अंकित हैं। यह मिनिट्स मैकॉले या किसी और के मिनिटों से ज्यादा महत्वपूर्ण मीनिट्स हैं। दुर्भाग्यवश हमारी बीएड, बीएलएड, कक्षाओं में मैकॉले को तो अमर बना दिया गया है। पर दरभंगा के राजा को अमर नहीं बनाया है जिसने उस दिन की बहस में कहा था कि अगर हमारे सारे बच्चे जबरन स्कूल पहुंचा दिए जाएंगे तो हमारे खेतों में काम कौन करेगा। और इस स्थिति में कैसे खाद्य का उत्पादन होगा वगैरा वगैरा। और यह सिर्फ उन्हीं के विचार नहीं थे। तो इसलिए अंदाज लगता है कि कितनी बड़ी सामाजिक कोशिश के जरिए यह स्थिति बनी कि 2009-10 में संविधान का जो कानून बन चुका था इसके पहले उसको अमलीजामा देने वाला यह अधिकार बना, जिसको हम अब शिक्षा का अधिकार कानून कहते हैं। वैसे तो यह बहुत बड़ी मंजिल है लेकिन यह मंजिल उस अर्थ में मंजिल नहीं है कि हम कहें कि हां हम खा चुके अब डकार के हम बैठ सकते हैं। यह मंजिल दरअसल एक नए और काफी मुश्किल सामाजिक अध्याय की शुरुआत है। जिसकी मुश्किलें शुरू हो गई हैं। हमको आठ-नौ साल के अन्दर ही समझ में आ गया है कि न तो भारतीय राज्य इस कानून की जिम्मेदारियों को खुशी-खुशी स्वीकारने को तैयार है और न ही समाज की कोई विशेष तैयारी है। बस समाज में चेतना के इधर-उधर कुछ अंश जिनको आजकल हम एनजीओ कहते हैं या थोड़े बहुत और लोग इसके पीछे आज हैं कि नहीं इस नए अध्याय को आगे बढ़ना ही है और यह अध्याय धीरे-धीरे खुलेगा। जाहिर है अगले कोई 40-50 वर्ष लेगा पूरी तरह खुलने में। इसमें न्यायपालिका की भूमिका बनेगी, इसमें प्रशासकों की भूमिका बनेगी, राजनीति की तो बनेगी ही क्योंकि आप देख रहे हैं कि शुरू के ही वर्षों में यह संघर्ष शुरू हो चुका है कि इसको बदला जाए। इसमें जो परीक्षा की बात की गई है उसको बदला जाए। इसको लेकर सहमति भी कहते हैं बन गई है और इसमें से दो बार तो यह बिल इतनी छोटी सी अवधि में सुप्रिम कोर्ट पहुंच चुका है। हालांकि सुप्रिम कोर्ट ने इस बिल के मौजूदा स्वरूप के समर्थन में ही अपना निणर्य दिया, बहुत मामूली सा परिवर्तन किया। लेकिन अभी यह बिल संकटों से गुजर नहीं पाया है और इसके कई पहलू हैं जो पहले से हमारी व्यवस्था में मौजूद अंतर्विरोधों के शिकार बनने की स्थिति में हैं।

तो आशय यह था कि बचपन जिस रूप में आज इस कानून के द्वारा निर्मित किया जा रहा है वह रूप भी ऐसा नहीं है कि जिसको हम कह सके कि कोई यह एक स्थिर तस्वीर बन गई है और इसको देखकर हम कह सकते हैं कि हां, भारत में बचपन स्कूल के दायरे में बन रहा है। लड़कियों के संदर्भ में देखें - आपमें से कुछ लोगों को शायद 'चूड़ी बाजार में लड़की' मेरी पुस्तक पढ़ने का अनुभव मिला है उसमें मेरा मुख्य तर्क ही यह है कि लड़कियों का बचपन अभी एक बहुत अजन्मी अवधारणा है और लड़कियों का बचपन हमारे समाज में, हमारी संस्कृति में विवाह और मातृत्व की लम्बी तैयारी से शुरू होता है। और छोटे बच्चों के जीवन में हम जो कल्पना करते हैं कि यह स्वतंत्रता, खेल और चपलता का समय है और सभी तरह की चिंताओं से मुक्त जीने का समय है। इनमें से अधिकांश बातें इतनी छोटी लड़कियों

पर भी लागू नहीं होती, जिनके बारे में हम कहें कि वे अभी बिलकुल अबोध हैं या लड़के और लड़की का फर्क ना करने की बात जो सरकार एक प्रचार के तौर पर करती है उसका फायदा उनको मिलने लगा है। एक अध्ययन हम लोगों ने 'भारतीय समाज विज्ञान परिषद- आईसीएसआर' के सहयोग से किया और पाया कि तीन और चार वर्ष की लड़कियों की तैयारी भी इस दिशा में शुरू हो जाती है। तो अगर बचपन के वर्षों को आप शैशव काल में भी शुरू करें, तो भी लड़कियों के बचपन को लेकर एक प्रश्नचिह्न बना रहेगा, जो बंगाल की प्रसिद्ध उपन्यासकार आशा पूर्णा देवी के उपन्यासों और कई अन्य लेखकों की रचनाओं में उन्नीसवीं सदी से ही एक बहुत बड़ी सामाजिक छाया में पड़ा रहा है। और जहां तक फिर आठ-नौ साल की लड़कियों के बचपन का सवाल है जो कि किशोरवय की दहलीज पर खड़ी होती हैं, वहां तो हम देख ही रहे हैं कि हम आज के समय में जिस स्थिति में थे शायद उस स्थिति से भी ज्यादा एक मुश्किल परिस्थिति बना चुके हैं छोटी लड़कियों के लिए। और फिर किशोर अवस्था तो आप सब जानते ही हैं कुछ कहने की जरूरत नहीं है कि कितने भयंकर दबावों के बीच यह जी जाती है। और यह जो पूरा कानून है जिसका जिक्र मैंने अभी किया इसके अमल में भी बहुत बड़ी समस्या, यह वाला जो चरण है, पांचवीं के बाद शुरू होने वाला जो देश के तमाम राज्यों में कई तरह के अवरोध महसूस कर रहा है। इसमें जो एक लम्बा इतिहास है बाल विवाह का। वह यह कह सकते हैं आप, कि संस्था के रूप में आड़े आता दिखता है। किसी हद तक कम हुई है वह चीज। लेकिन कम-ज्यादा का प्रश्न नहीं है। अगर बाल विवाह नहीं भी होता है बहुत सी लड़कियों का आज तो भी विवाह की तैयारी तो बाल्यावस्था में ही होती है और उसके लिए शरीर की हिफाजत, शरीर की सज्जा और एक पूरा ढांचा है दैनिकता का जो बचपन की सहज अवधारणाओं से संचालित नहीं होता। यह अवधारणाएं क्या हैं? इन अवधारणाओं को समझने के लिए जब हम साहित्य को या कि शिक्षा के भाष्यकारों को पढ़ते हैं तो वह अवधारणाएं इसी तरह की होती हैं कि बचपन एक ऐसा समय है जब हमारी चेतना, हमारी सहजक्रियाओं में डूबी हुई होती है, हम अलग से उसके बारे नहीं सोचते हैं। यानी कि बच्चा अपनी सहज संवेदनाओं से संचालित होता है। ऐसा अगर समय है तो जाहिर है कि हमें लड़कियों को अभी भी उससे बाहर रखना होगा क्योंकि लड़की को देखने वाली निगाह चाहे वह माता-पिता की हो या बड़े भाई की हो या किसी की भी हो वह निगाह ही बहुत सी चिन्ता को व्यक्त करने लगती है उसके जन्म के साथ।

तो यह एक अलग कहानी है, जहां तक जाति व्यवस्था और बचपन का संदर्भ है। उसमें भी बाल श्रम की, बच्चों को जल्दी से जल्दी रोजगार में, रोजगार तो आज है नहीं लेकिन मजदूरी में लगाने की परिस्थितियां बहुत बड़े पैमाने पर, बहुत समय से रही हैं। इनमें कितना बदलाव अस्सी या नब्बे के दशक तक हुआ था। उसमें भी अब लगता है कि बहुत सा एक नया अवरोध पैदा हो रहा है जो कि भारत की समकालीन आर्थिक परिस्थितियों से हो रहा है। यानी कि बचपन उभरते हुए भी संघर्ष कर रहा है। भारत में बच्चे थे, बच्चे आज भी हैं बहुत बड़ी संख्या में, लेकिन एक अवधारण के तौर पर बचपन जो आप कह सकते हैं संयुक्त राष्ट्र संघ का जो एक कनवेंशन है, जिसमें भारत के हस्ताक्षर हैं, उसकी इबारत से व्यक्त होता है। वह इबारत क्या है? आप सब लोग जानते होंगे। उसकी इबारत अधिकार की भाषा में है। बाल अधिकारों का कन्वेंशन है ये जो संयुक्त राष्ट्र संघ ने बहुत दशकों पहले पारित किया था और जिसमें भारत चूंकि एक सदस्य है और भारत ने भी सहर्ष दस्तख्त किए थे। इसलिए वह एक हवाले का विषय बनता है और उसके अनुसार देखें तो बचपन डर से मुक्त होगा, बचपन में पूर्णतः विकसित होने के लिए स्वास्थ्य की गारंटी होगी, बचपन में तरह-तरह की स्वतंत्रताएं आवश्यक हैं, भूख से स्वतंत्रता, निरक्षरता से स्वतंत्रता, मार से स्वतंत्रता इस तरह की अनेक चीजे बाल अधिकारों के इस अंतर्राष्ट्रीय समझौते में लिखी हुई हैं। उनकी कसौटी पर जब आप बचपन को कसेगें तो आप देखेंगे कि यह भारत में एक सामाजिक निर्मिति के रूप में अभी हमारे सामने नहीं है। हमारे सामने किसी-किसी बच्चे में बचपन के लक्षण दिखते हैं या समाज के कुछ वर्गों में कभी-कभी ऐसा लगता है कि हम बचपन को देख रहे हैं या किसी फिल्म में किसी गाने को सुनते हुए हमारे मन में बचपन का एक चित्र जागता है। और सबसे ज्यादा तो शायद वह हमें अपनी ही स्मृति में कई बार झंकृत होता हुआ लगता है, कि जब हम छोटे थे तो ऐसा होता था और अब ऐसा नहीं होता है। यह जो अहसास है इसमें स्मृति हमारे साथ लगातार खेल करती है। क्योंकि हमें अपने बचपन के भी वह प्रसंग याद रहते हैं जो सुखद प्रसंग थे। अपेक्षाकृत कष्टप्रद, दुःखद प्रसंग स्मृति प्रायः छिपा भी लेती है या

उनकी चर्चा प्रायः हम नहीं कर पाते हैं। इसलिए अपनी स्मृतियों के आधार पर बचपन की निर्मिति का चित्र खींचना बहुत मुश्किल होता है।

फिर हम चलते हैं अगर साहित्य की ओर देखने के लिए कि वहां कौनसी निर्मितियां दिख रही हैं? तो कई पड़ाव मिलते जरूर हैं और हम कह सकते हैं हां, बचपन के कई चित्र उन्नसवीं सदी से आज तक के साहित्य में विद्यमान हैं। और अगर यूरोप की ओर देखें तो सचमुच साहित्य की मदद से ही बहुत से बचपन का अंदाज लगता है जैसे चार्ल्स डिकिंग्स के मशहूर उपन्यास 'ऑलीवर ट्विस्ट' में तत्कालीन विक्टोरियन ब्रिटेन जो कि एक औपनिवेशिक ताकत था सारी दुनिया की। उसके अपने देश में एक गरीब बच्चे का जीवन कैसा था डिकिंग्स को पढकर उसका अंदाज लगता है। भूख और बिमारी से झूझता हुआ ब्रिटेन का बचपन। हमारे देश में कृष्ण बलदेव वैद्य ने 'उसका बचपन' पुस्तक लिखी जो आज जापानी में ज्यादा पढ़ी जाती है, हिन्दी में अपेक्षाकृत कम। बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक है जिसमें एक गरीब बच्चे की निगाह से हम दुनिया को देख पाते हैं या अगर आप उसके भी पीछे चलें तो प्रेमचन्द ने ईदगाह कहानी में एक तरह की फैन्टिसी रची है जो कि आजादी के आन्दोलन में डूबी हुई है। 1930 के दशक में प्रकाशित यह कहानी आज भी मीमांसा और विवेचन की दरकार करती है। किस तरह समझें हामिद के बचपन को जिसने अपने ढंग से, सूझबूझ, अपनी स्वतंत्रता और दादी के प्रति अपने स्नेह का इजहार करने के लिए और बच्चों का रास्ता न अपनाकर जो मिट्टी के सुन्दर खिलौने खरीद रहे थे मेले में, चिमटा खरीदा और उसका इस तरह इस्तेमाल किया जैसे वह एक अस्त्र हो और बाकी उन सब बच्चों को जो उसको चिढा रहे थे, उन सबको अपने बालसुलभ तर्क से परास्त किया और इसके बाद जब कहानी समाप्त होती है तो दादी की गोद में छिप गया। दादी की आंखों में आंसू आ गए। एक बहुत सुघड़, सुन्दर कहानी है। जो सामाजिक यथार्थ की कहानी नहीं है। जिसके लिए प्रेमचन्द जाने जाते हैं। यह एक यथार्थ की फैंटेसी है। तरह-तरह से शायद उसकी मीमांसा की जरूरत है। लेकिन निश्चित रूप से इस पर आजादी के आन्दोलन की छाया जरूर है कि भारत अगर एक स्वतंत्र देश बनेगा तो किस तरह वह अपना आविष्कार करेगा। क्योंकि उसके पास साधन बड़े सीमित हैं, उसके ऊपर परम्पराओं का दबाव है और उसके भीतर तमाम तरह का तनाव है। इस सबके बीच में भारत अपनी परिभाषा कैसे रचेगा? उसको कितनी मौलिकता के साथ, अपनी सीमाओं के बीच, अपनी इच्छा का, अपनी आत्मा का या अपने अरमान का इजहार करना होता है। हामिद शायद उस समय उदित होते हुए भारत की स्वतंत्रता के सपने की एक अनुकृति भर है। बचपन की भी थोड़ी-सी अनुकृति वह जरूर है। एक ईदगाह का रूपक लेकर प्रेमचन्द ने हल्का सा हमें समझाया है कि बचपन कितने हिस्सों में बंटा हुआ है और उस समय के खिलौनों के बारे में थोड़ी चर्चा करके उन्होंने एक जाते हुए ग्रामीण जीवन का स्पर्श किया है। वैसे तो आज भी यह खिलौने आपको राखी के अवसर पर, और त्यौहारों पर इधर-उधर दिख जाएंगे लेकिन यह खिलौने आज के बचपन को चिह्नित करने वाली निर्मितियां नहीं हैं। आज का बचपन जिस तकनीकि परिवेश में व्यक्त हो रहा है उसको अमेरिका के मशहूर और बहुत ही वरिष्ठ मनोविज्ञाक डेविड अलकाईन ने एक न्यू टेक्नोलॉजिकल एन्वायरमेंट का नाम दिया है। जो अपने-आपमें संपूर्ण है। और उस संपूर्णता के भीतर बचपन की वे स्वीकृत विशेषताएं जो यूरोप और अमेरिका जैसे समाजों ने काफी लम्बे कानूनी और आर्थिक और सामाजिक संघर्ष के बाद विकसित की थीं और पहचानी थीं वे एलकाईन के अनुसार आज बड़े दबाव में हैं क्योंकि यह टेक्नोलॉजी दरअसल बचपन के इर्दगिर्द जो एक घेरा बनाया था समाज ने, जो प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो के चिंतन में उभरा था कि बचपन समाज की जिम्मेदारी है। और यह सिर्फ उन माता-पिताओं की जिम्मेदारी नहीं है जिन्होंने बच्चे को पैदा किया है। एक संपूर्ण समाज की जिम्मेदारी है कि वह बचपन को समाज की परिस्थितियों से खासकर उसकी ऐसी परिस्थितियों से जो इतिहास क्रम में बहुत विकृत हो गई हैं, उनसे कुछ वर्षों के लिए सुरक्षित करे। जिससे बाद में वह थोड़ा सा परिपक्व हो जोने पर या वयस्क हो जाने पर स्वयं अपनी नागरिकता का, अपने मानस का इस्तेमाल कर सके अपने जीवन को निर्धारित करने के लिए। एक तरह से यह एक गमले का आप कह सकते हैं रूपक है। भाई इस पौधे को अगर बचाना है तो या तो गमले के चारों तरफ एक जंगला बना दीजिए आप, रूसो के दर्शन का एक बहुत ही 'क्रूड' अनुवाद मैं कर रहा हूं। और या आप किसी तरह से इस बच्चे का कवच बन जाइए। जिससे कि कुछ वर्षों तक कम से कम आप कह सके कि हां, हमने इस बच्चे को पोषण दिया, मानसिक रूप से विकसित होने का अवसर दिया। इस पर ऐसी छायाएं नहीं आने दीं जो इसको शुरू से ही बहुत ज्यादा आक्रमण

सहने के लिए विवश करती हों। एलकाईन का कहना है कि यह पूरा जो एक प्राथमिकताओं का या पूर्व धारणाओं का एक सिलसिला है यह इस टेक्नोलॉजिकल वातावरण में असंभव-सा हो गया है क्योंकि जो रेडियो या टी.वी. की पहुंच थी इंटरनेट या इंटरनेट पहुंचाने वाले विभिन्न औजारों के जरिए वह पहुंच अब हमारे घरों के अंदर है। और उस अर्थ में बचपन अब एक संरक्षित या ऐसी कोई कोटी या श्रेणी नहीं है जिसके बारे में माता-पिता या अध्यापक गारंटी के साथ कह सकें कि- जी नहीं, मैं जानता हूं अपने बच्चे को। बहुत सी चीजें हैं जो आप कहते हैं आज कि मैं अपने बच्चे के बारे में नहीं जानता क्योंकि उस तक बहुतों की पहुंच है। ऐसे-ऐसे लोगों की पहुंच है, जिनको हम अपने घर में शाम के वक्त पांच मिनिट के लिए भी अन्दर नहीं आने देते लेकिन वह उस बच्चे तक पहुंच सकते हैं। यह एक नई स्थिति है। बचपन की स्वतंत्रता की भी स्थिति है और बच्चा रहते हुए ही सारी दुनिया की आप कह सकते हैं शक्तियों से जूझने की विवशता की भी स्थिति है। इसमें ना तो रोमांटिक हुआ जा सकता है और न ही बहुत निराशावादी हुआ जा सकता है क्योंकि यह एक नई स्थिति है।

दुनिया ने इंटरनेट जुमा-जुमा मुश्किल से 25 साल देखा है। एक पुरानी दुनिया थी जिसमें हम पिछले कम से कम तीन-चार हजार साल का इतिहास दावा करते हैं अपने देश में जानते थे। आम तौर पर हम लोग कह सकते हैं कि हां, अगर पिछले दो-ढाई हजार साल का इतिहास हमें पता है तो उसमें यह जो 25 वर्ष हैं यह कोई खास मायना नहीं रखते है। हम नहीं जानते हैं कि यह परिस्थिति जिसमें सूचना, बिंब, संदेश और मनाने का इतना ताकतवर स्वरूप जो कि इस टेक्नोलॉजी में हम देखते हैं सीधे बच्चे तक पहुंचता है। तो आज उसके जरिए बचपन किस परिस्थिति में पहुंचता है कोई गारंटी से नहीं कह सकता है। इंटरनेट के एक ही दार्शनिक हैं दुनिया में जो स्पेन में रहते हैं, उन्होंने भी जो अपने तीन-चार वॉल्यूमस में इंटरनेट की मीमांसा की है उसमें भी बचपन का कोई खास अर्थ वह इतना नहीं समझा पाए हैं। एलकाईन ने अपने लेखों में थोड़ा-बहुत कोशिश की है समझाने की और वह इसको लेकर बड़े चिन्तित हैं कि हम इसको गंभीरता से ना लेकर एक खिलौने की तरह ले रहे हैं और हम देख रहे हैं कि तीन-चार साल के बच्चों को भी या छह-सात साल के बच्चे को अवकाश के क्षणों में माताएं या उनका अध्यापक दे देता है खेलने के लिए एक ऐसी चीज से जिसकी शक्ति का हमें खुद अंदाज नहीं है कि उसमें क्या-क्या है। उसको लेकर हम खुद बहुत ज्यादा स्पष्ट नहीं हैं। और यह वास्तव में एक ऐसी स्थिति है जिसके बारे में निश्चित होकर कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि इंटरनेट के जरिए निर्मित हो रहा बचपन क्या ज्ञान के संदर्भ में देखा जाए या वह भावना के संदर्भ में देखा जाए या वह शोषण के संदर्भ में देखा जाए। जैसे चाइल्ड पोर्नोग्रॉफी यह दुनिया के लिए एक नई चीज है जो आज गांव में भी पहुंचा सकते हैं, बड़े-बड़े शहरों से भी पहुंच रही है। कहना बड़ा मुश्किल है कि इसका बढ़ते हुए बच्चे के मानस पर क्या प्रभाव पड़ता है। आप कह सकते हैं कि बचपन को समझने के हमारे पास जो भी सैद्धान्ति औजार हैं। जो हमें पिछले सौ वर्षों में मनोविज्ञान ने दिए हैं, समाज विज्ञानों में से कुछ ने दिए हैं इन औजारों की मदद से इस नए टेक्नोलॉजीकल वातावरण को यह संज्ञा जो एलकाईन ने दी है, इसको समझना आज काफी कठिन है। हम इतना ही कर सकते हैं कि हां, एक अपनी सीमा का ध्यान रखते हुए इसको सशंक दृष्टि से देखकर कहें कि हां, यह एक निर्माणाधीन स्थिति है। बचपन एक निर्मिति बनने से पहले ही निर्माणाधीन हो गया है हमारे जैसे देश में क्योंकि अभी हम बचपन को एक निर्मित बना नहीं पाए थे। अभी कानूनी रूप से उसको स्वीकृत नहीं करा पाए थे कि हां यह होता है। उसमें भी अभी कई अंतर्विरोध थे। जैसे कि देखिए, जो वयस्क मताधिकार है वह शुरू होता 18 साल की उम्र में और जो हमारे पास शिक्षा का इंतजाम है वह खत्म होता है 14 साल की उम्र में। हमें अभी नहीं पता था कि यह चार साल क्या होगा। किसकी छाया में बचपन पलेगा। राज्य का सहयोग उसमें होगा या नहीं होगा या केवल माता-पिता का होगा। यह तमाम अनुत्तरित प्रश्न थे कि अगर कोई 15 वर्ष का बच्चा किसी तरह का अपराध करता है। उसको कहां लाएंगे? अभी आप देख रहे हैं कि बाल अपराध कानून में भी परिवर्तन हुआ है। या एक बच्चे की जो गवाही है किसी बड़े अपराध को देखते समय उस गवाही को किस हद तक माना जाएगा? किस उम्र में कितना माना जाएगा? इस तरह की अनेक सवाल हमारी दण्ड सहिता की दृष्टि से अभी महत्वपूर्ण बने हुए हैं। यहां तक कि बच्चे की पिटाई हो सकती है कि नहीं। यह सवाल भी अभी कई अंतर्विरोधों से अभी भी घिरा हुआ है क्योंकि यह जो शिक्षा का अधिकार कानून है यह कहता है कि पिटाई पूर्णतः प्रतिबंधित है। लेकिन अगर आप आईपीसी को देखें तो वह पूर्णतः

प्रतिबंधित नहीं है। इस अर्थ में कि यदि हम किसी को उसके भले के लिए पीट रहे हैं तो इस मामले में बच्चा या औरत यह अपवाद बनते हैं। दुर्भाग्यवश अभी भी आईपीसी का वह संशोधन पूरी तरह से हुआ नहीं है। और इसलिए यह स्पष्ट नहीं है कि अगर किसी ने बच्चे को मारा है कि जिससे वह सुधर जाए उसके अनुसार तो यह अपराध है कि नहीं है। और वैसे भी एक ऐसी संस्था के ढांचे में यह अपराध किया जाना है प्रायः जो काफी दबाव बनाती है अभिभावकों पर कि अगर आपने हमारी इस संस्था के भीतर होने वाली घटनाओं पर कोई टिप्पणी की या एफआईआर बना दिया तो आपका जो होगा सो होगा आपके बच्चे को इस संस्था से बाहर जाना होगा। और वैसे ही उसमें प्रवेश इतनी मुश्किल से मिलता है। तो इसलिए आप सोच सकते हैं कि यह जो पूरा विषय है अब यह इस पहली वाली पत्ती की कढ़ाई से गुजर कर दूसरी वाली पत्ती में पहुंच गया है। यानी कि मैंने आपसे कहा था कि आज बचपन की, कुछ इसके पहलुओं की पड़ताल करने के बाद हम शिक्षा में कुछ समय बिताएंगे क्योंकि जिसका जिक्र या जिसका संकेत मैंने अभी दिया वह संस्था है स्कूल। विश्व के इतिहास में इसके पहले ऐसा कोई समय नहीं था जब स्कूल एक इतनी बड़ी संस्था था। यह एक नई परिस्थिति है दुनिया के सामने भी और आज भारत के सामने तो बिलकुल ही नई परिस्थिति है। दुनिया के, जिनको आज हम विकसित देश कहते हैं उन देशों में भी ज्यादातर देशों में इस तरह से सार्वजनिक हो चुके स्कूल का इतिहास बहुत से बहुत सौ-सवा सौ साल पुराना है। जापान में जैसे आप कह सकते हैं कि निजी शासकों ने ही इसको फैलाया। फ्रांस या ब्रिटेन के समाजों को देखें तो उनमें भी यह बीसवीं सदी की ही कहानी है। और ब्रिटेन में जिसके हम उपनिवेश रहे हैं उसमें तो यह कहानी बड़ी लड़खड़ाती हुई शुरू हुई थी उन्नीसवीं सदी में और द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जाकर हर बच्चे को स्कूल में कुछ वर्ष रखने का ब्रिटिश समाज का प्रयास सफलता के करीब पहुंचा। तो काफी नई कहानी है आप कह सकते हैं। हमारे लिए तो यह एकदम ही नई है। हमें मालूम ही नहीं था कि यह सम्भव है। अस्सी के दशक में भी मुझे याद है लोग कहते थे कि इसके वित्तीय साधन हम नहीं जुटा पाएंगे और कई बड़े जिम्मेदार नेता इसको लेकर बहुत सशंकित भी थे जब यह कानून बन रहा था। आज उनकी याद भी इसलिए आती है क्योंकि कानून बनने के कुछ ही वर्षों के भीतर अब इस कानून के अमल पर खर्च किया जाने वाला केन्द्र सरकार का जो निवेश है वह घटाया जाने लगा है और केन्द्र कहने लगा है कि कानून तो हमने बनाया था पर अब तुम सम्भालो इसको, राज्यों से कह रहा है कि आप इसके लिए पैसा निकालिए हमने तो तरह-तरह के फॉर्मूलों से आपको पैसा दे ही दिया है। और आपने सुनी होगी सबसे ताजी खबर कि सर्वशिक्षा अभियान और राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान को मिलाया जा रहा है जो दरअसल इस कानून की दृष्टि से देखें तो एक बड़ी भारी प्रशासनिक दुर्घटना है।

यह जो पूरा स्कूल का प्रसंग है यह बचपन को समझने के लिए एक काफी बड़ी खिड़की खोलता है। और इस शहर में जहां निजीकरण का इतना ज्यादा विस्तार हुआ है जो मध्य प्रदेश का नागरिक होने के नाते मुझे भी हर बार चौकाता है भोपाल आने पर कि मैं कोचिंग की राजधानी में जा रहा हूं या मध्य प्रदेश की राजधानी में जा रहा हूं समझ में नहीं आता। एक बहुत बड़ी समस्या से हम जूझ रहे हैं, शायद उत्तर भारत में बहुत ज्यादा है पर वैसे पूरे देश में है। और अमर्त्य सेन जैसे अर्थशास्त्री ने ही इसको काफी बड़ी एक राष्ट्रीय आपदा के रूप में चिह्नित करने की कोशिश की है। दूसरी तरफ पूरानी जो एक समस्या रही है हमारे देश में माध्यम की या भाषा को पढ़ाने का माध्यम बनाने की वह भी आज बहुत विकसित रूप में दिखाई देती है क्योंकि वैसे तो यह वाला विमर्श भी 19वीं सदी तक जाता है कि मातृ भाषा ही छोटे बच्चे की पढ़ाई के लिए सबसे अच्छा माध्यम है लेकिन इस विमर्श से कोई फर्क नहीं पड़ता। आज अभी मैं जहां से आ रहा हूं अपने ही शहर से वहां एलकेजी में जाने के लिए अंग्रेजी की कोचिंग है। अलग कोचिंग सेन्टर है जो आपको एलकेजी में प्रवेश दिलाने में मदद करेगा। एलकेजी मतलब लोवर केजी जहां कि तीन-चार साल के बच्चे जाते हैं। और यूकेजी में जाने के लिए भी अंग्रेजी सीखने में, थोड़ी बहुत गणित अंग्रेजी में बोल सकने में मदद करने वाले कोचिंग के सेन्टर हैं और फिर पहले दर्जे से तो खैर है ही बहार। पूरा एक सामाजिक विभाजन शुरू होता है जिसमें अंग्रेजी माध्यम एक विमर्श के तौर पर आज की तारीख में कोई रेफरी हो तो यही कहेगा कि हां इसने गोल कर दिया आप चुपचाप बैठिए। यह अब जीत गया है। कितने गोलों से जीता है यह गितनी करते रहिए। स्वयं कई सरकारें अपने-अपने स्कूलों में अंग्रेजी माध्यम के अलग सैक्शन बना रही हैं और सरकारी स्कूलों की आलोचना का

एक बहुत बड़ा मुद्दा ही यह बन गया है कि यहां अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जाती, यहां अंग्रेजी माध्यम का प्रयोग नहीं होता। तो बहुत सी राज्य सरकारें इस मुद्दे को सुलझाने की कोशिश कर रही हैं कि हम भी अंग्रेजी पढ़ाएंगे, इत्यादि। पूरी शिक्षा व्यवस्था जैसे इस मुद्दे पर डगमगाई हुई सी है और आज से नहीं है एक अर्से से है। और साहित्यकारों ने तो इसको बहुत पहले ही देख लिया था। अगर आप रेणु का मैला आंचल पढ़ें, करीब आज उसको 65 साल हो रहे हैं, उसी में एक पात्र ने उस समय कहा था कि एक समय आएगा जब गांव के हरेक कोने से ए, बी, सी की झंकार सुनाई देगी। तो वह झंकार आज सिर्फ ए, बी, सी की नहीं है, वह टयूजडे, वेनस्डे, थर्सडे की भी है। मैंने आज से कोई पन्द्रह साल पहले एक केन्द्रीय विद्यालय और वह भी राजधानी के बहुत अच्छे इलाके में, समृद्ध इलाके में एक केन्द्रीय विद्यालय के बच्चे से पूछा था कि आज कौनसा दिन है? तो वह मंगलवार नहीं जानता था। जबकि केन्द्रीय विद्यालय संगठन की ऐसी नीति कभी नहीं रही है कि यहां पर हिन्दी का या मातृ भाषा का प्रयोग ना हो। लेकिन अपने-आप नीति का खिसकाव समाज के दबाव के चलते हरेक तरह के स्कूल में हुआ है। और चेज लेडूसा जो अमेरिका के एक शोधक हैं उन्होंने बनारस के कई स्कूलों का अध्ययन करीब 19 साल तक करके अपने निष्कर्ष निकाले हैं अपनी इस पुस्तक में 'इंलिश इज ए वर्क ग्राउण्ड, हिन्दी इज ऑवर स्काई' और उसमें तरह-तरह से किस तरह राष्ट्रवाद और यथार्थ बोध और आर्थिक अभीप्साएं टकराती हैं इस मुद्दे पर उसका बड़ा विस्तृत, विषद, गहरा विवरण दिया है। उससे समझ आता है कि यह मसला सिर्फ नीति का नहीं है, यह सिर्फ भावना का नहीं है, यह मसला सिर्फ राष्ट्र निर्माण का भी नहीं रह गया हैं। यह मसला हमें बहुत सोच-समझकर धीरे-धीरे समझना होगा। इसके पहले कि हम इसमें कोई हस्तक्षेप कर पाएं। हम यानी वह जो अब वयस्क हो चुके या वरिष्ठ हो चुके क्योंकि यह हमारे हाथ से फिसला हुआ मसला है। अब वह स्थिति नहीं है कि कोई टैगोर, कोई गांधी, या विवेकानन्द हमें याद दिलाए कि मातृ भाषा सर्वोत्तम माध्यम है। याद दिलाने का अब कोई समय ही नहीं है। उस अर्थ में देखें तो एक तरह का आपातकाल है, जो कि कम से कम उत्तर भारत में मातृ भाषाओं की पराजय से पैदा हुआ है। और इस क्षण में शिक्षा, शिक्षा नीति, शिक्षा संबंधी शोध, शिक्षा संबंधी सिद्धांतकार हमें मदद देने की अब स्थिति में नहीं रहे। और अगर इस पूरे प्रसंग से कोई एक रचनात्मक ऊर्जा निकली थी तो वह आप कह सकते हैं कि बहुभाषिता को प्रोत्साहन देने की वह ऊर्जा थी, कम से कम द्विभाषिता को प्रोत्साहन देने की। और एक संतुलित द्विभाषिता को या संतुलित ना सही तो ऊर्जस्व बहुभाषिता को स्कूलों में अपनाने की एक नई, आप कह सकते हैं दिशा निकली थी, जिसमें अंग्रेजी भी रहेगी, हिन्दी भी रहेगी या हिन्दी की बोलिया भी रहेंगी या भारत की अन्य भाषाएं भी वहां रह सकती हैं। त्रिभाषा फॉर्मूले का कोई नया रूप निकलेगा ऐसी उम्मीद 10-15 सालों में जागी थी। पर भारत के जो अभिजनों के स्कूल हैं उन्होंने इस उम्मीद पर भी कोई खास अपनी मोहर लगाने की जरूरत नहीं समझी। और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा में यह जो बहुभाषिकता का एक इलाज दिया गया था इस समस्या का वह बहुत आगे नहीं बढ सका है। इसके अनेक कारण हैं जो आज शाम हम लोग दोहरा नहीं सकते। लेकिन इतना भर कहने से ही काम चल जाएगा हमारा कि जहां तक बचपन को आकार देने या बचपन को एक सामाजिक रचना बनाने का भारत के आधुनिक समाज का संघर्ष है उसमें शिक्षा का योगदान या शिक्षा का संभव योगदान आज काफी कमजोर पड़ गया है। बचपन अन्य प्रकार की शक्तियों से निर्मित हो रहा है और शिक्षा जो दरअसल अपने-आप में एक नेतृत्व देती है वह पीछे हटी हुई सी दिखती है। और उसका संचालन करने वाली मुख्य आधुनिक समाज की संस्था यानी राज्य स्वयं कुछ घबराहट की मुद्रा में है। और इसलिए या कह लिजिए संयोगवश उसने अपनी बहुत सी जिम्मेदारी इन तमाम या तो कॉर्पोरेट सेक्टर को दे दी है या गैर सरकारी संगठनों को सौंप दी है। स्वयं अधिकारी कहते हैं कि हमें नहीं लगता कि हम लोग स्वयं इसको पूरी तरह से खुद कर सकते हैं। चूंकि इस समय तो कोई दस्तावेज है नहीं जिससे हम कह सकें कि भई शिक्षा नीति यह है पर अनीति भी नहीं है। आप कह सकते हैं कि एक नीति उभरती हुई बन रही है और उसमें शिक्षा एक नेतृत्व की भूमिका में नहीं है, ऐसा दिखता है बचपन के मसले पर। बचपन को हमने अन्य सामाजिक शक्तियों के सूपूर्द विकसित होने के लिए छोड़ दिया है। और इसलिए उस अर्थ में देखें तो बचपन भारत में सुरक्षित या संरक्षित होने से पहले ही फिर खुल गया है आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों द्वारा संचालित किए जाने के लिए। तो जिसको आप अंग्रेजी में कहते हैं कि एक वलनरेबल अवस्था जीवन की जो बचपन हमेशा ही था आज भी है वह अपनी उस वलनरेबिलिटी

से उभरने की स्थिति में आज नहीं है। और इसलिए अब इस तीसरी पत्ती की कढ़ाई शुरू करना जरूरी है। क्योंकि जहां शिक्षा का नेतृत्व उपलब्ध नहीं है या पूरे अपने जोश के साथ उपलब्ध नहीं है, शिक्षा को समझौता करना पड़ा है कई तरह की चीजों से, समाज के कई अंतर्विरोधों से और इसलिए उसको समाज का विश्वास ही प्राप्त नहीं हो सका है। और कई मामलों में आप कह सकते हैं कि शिक्षा आज स्वयं काफी पीछे की तरफ देख रही है। तो इसीलिए इस तीसरी चीज का स्मरण हो आता है- साहित्य। जो मनुष्य के साथ हमेशा ही रहता है। मनुष्य मरने की भी स्थिति में हो तो भी साहित्य को याद कर लेता है। मृत्युंजय पाठ कर लेता है या कुछ और करता है। तो साहित्य एक ऐसा सम्बल है जो समाज की परिस्थितियों में भी विषम से विषम परिस्थिथि में भी जीवित होता है। और साहित्य इसीलिए साहित्य है क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा पैदा किए गए अनुभव को, ज्ञान को अपने ढंग से संरक्षित करता है। साहित्य की यह सिर्फ विरासत नहीं है यह साहित्य का जीवन है। और इस अर्थ में देखें तो आज एक महत्वपूर्ण शाम है, हम सबके सोचने के लिए कि क्या बचपन की जो भी निर्मिति हमारे बीच उभर रही थी और जो आज बिखरती हुई सी लगती है और शिक्षा जो बचपन को संभालने में पूरी तरह असमर्थ है, क्या इस परिस्थिति में हम साहित्य की ओर देख सकते हैं? आज शाम मैं इसका उत्तर हां कहकर ही देना चाहूंगा। और सोचता हूं कि साहित्य को यह जिम्मेदारी न केवल वैसे ही स्वभाविक रूप से सम्भालनी है क्योंकि साहित्य तो कभी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता लेकिन कुछ सचेत होकर भी सम्भालनी है और इसीलिए यह संस्था जिसने आज की शाम सम्भव बनाई है, एक महत्वपूर्ण कदम है क्योंकि यह सिर्फ साहित्य की बात नहीं कर रहे हैं, जो एक अपने-आपमें बहुत बड़ा विषय है, बहुत बड़ी चीज है। यह बात कर रही है बाल साहित्य की। और अब यह सिलसिला शुरू होता है कि हम साहित्य को बच्चे के संदर्भ में किस तरह परिभाषित करें? और उसके कौन-कौनसे मुद्दे आज चर्चा के बाद बहस का, अपनी सोच का विषय बनाएं? क्योंकि हिन्दी भाषा का यह कोना इतना समृद्ध नहीं है जितना आज संभव था।

एक विरासत बनी थी 1930 से 50 के दशक में, आजादी के आन्दोलन के संदर्भ में बहुत से कवि, बहुत से गद्य लेखक बच्चों के लिए लिखने की ओर प्रेरित हुए थे और बाल सखा, वानर, खिलौना जैसी यशस्वी पत्रिकाएं बहुत सीमित साधनों से प्रकाशित होने लगी थी और जिसको आज हम हिन्दी भाषी समाज कहते हैं उसकी रचना के योगदान में उसकी निर्माणाधीनता के उषाकाल में इन पत्रिकाओं ने बड़ी भूमिका निभाई। इनका जो दौर है जैसे कि बालक पत्रिका का 1916 से शुरू होने वाला दौर है वह 60 के दशक में समाप्त हो जाता है। ठीक ऐसी ही कहानी बाल सखा की है 1917 में यह शुरू हुई और 67 में इसका अंतिम अंक निकला। आप इस पत्रिका की जीवनी से कुछ अंदाज लगा सकते हैं कि उत्तर भारत का हिन्दी भाषी समाज जिस दौर से इन दशकों में निकला, लगभग 1920 के आसापास अगर इसको रखें तो अगले 50 वर्ष उसके लिए यानी 40-45 वर्ष कह सकते हैं आप बड़े महत्वपूर्ण हैं। और आप सोच सकते हैं कि यह जो दशक हैं यह अगर राजनैतिक इतिहास की दृष्टि से देखें तो क्यों अपने आप में एक काल खण्ड बने बनाए लगते हैं। 1916 बालक, 1917 में बालसखा कोई भी इतिहास का विद्यार्थी होगा तो वह जानता होगा कि 1915 में क्या हुआ था। गांधी भारत लौटे थे। तो यह जो पूरा प्रसंग है यह स्वतंत्रता आंदोलन की चेतना से जुड़ा हुआ प्रसंग है। जिसके चलते निरंकार देव सेवक, श्रीप्रसाद या कि सोहन लाल द्विवेदी जैसे अनेक कवि, लेखक अगले पांच-छह दशकों में बच्चों के लिए लिखने के लिए प्रवृत्त हुए। और उनके साहित्य को, उनकी कविता को, कहानी, गद्य, इत्यादि को देखकर या उसका अध्ययन करके हमें अंदाज लगता है कि बाल साहित्य किस-किस तरह की भूमिका निभा सकता है। और आज जब हम बाल साहित्य का जिक्र और उसका थोड़ा बहुत विश्लेषण करने निकले हैं, आज के समय में बचपन की मीमांसा करने के लिए तो यह विरासत हमें कुछ महत्वपूर्ण संदेश दे सकती है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह विरासत हिन्दी समाज ने संभाल कर नहीं रखी। और पिछले चार-पांच दशकों में इसमें से बहुत सी मुद्रित सामग्री तो लगभग नष्ट होने की कगार पर पहुंच गई है। थोड़े से ऐसे शोध छात्र हैं नन्दनी चंद्रा जैसे जिन्होंने गांव में घूमकर या बेगूसराय और कहां-कहां के जमीदारों के पुस्तकालयों से पुरानी पत्रिकाओं को निकाल कर के अपना एक शोध ग्रंथ जवाहर लाल विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया। थोड़ा बहुत ऐसा संरक्षण कुछ राष्ट्रीय संस्थाओं ने भी कोशिश की है करने की जिनमें एनसीईआरटी का स्थान है। लेकिन फिर भी वह राशि इतनी बड़ी है कि उसका पूरा संरक्षण नहीं हो सका। और बहुत से लोग तो यह मानते ही हैं कि जो बाल साहित्य के क्षेत्र में विशेष काम हुआ है हिन्दी में

वह तो आजादी के बाद ही हुआ है। तो आप लड़ सकते हैं लोगों से लेकिन अज्ञ लोगों से लड़ने का कोई फायदा नहीं होता। आप ही को बाद में पश्चाताप होता है। तो इसलिए सोचना चाहिए हमको कि यह विरासत हमने क्यों गंवाई और इससे आज हम क्या सीख सकते हैं। जाहिर है, इससे एक मुख्य चीज तो यही सीख सकते हैं कि बाल साहित्य को सिर्फ रचा नहीं जाना है बल्कि उसको एक परम्परा में बांधा भी जाना है। आज जो कवि, लेखक लिख रहे हैं उनको अवश्य पीछे मुड़ कर इस परंपरा को ढूंढना होगा। क्योंकि इस परंपरा में भाषा छिपी हुई है, इस परंपरा में साहित्य के संस्कार हैं, साहित्य के मूल्य हैं और इन्हीं की चर्चा मैं अपने व्याख्यान के अंतिम हिस्से में करना चाहता हूं।

ये तीनों ही मुद्दे आप कह सकते हैं काफी संवेदनशील हैं। पर इनमें सबसे संवेदनशील अगर कोई मुद्दा है आज के समय में या रहा है लगातार तो वह तो मूल्यों का ही है। आप जैसे ही बाल साहित्य के संदर्भ में या बच्चों के संदर्भ में मूल्य का प्रश्न उठाते हैं तो लोग सोचते हैं कि यह नैतिक मूल्यों का प्रश्न है। और आज शाम हमें शुरू में ही घोषणा कर देनी चाहिए कि भाई यह नैतिक मूल्यों का का मामला नहीं है। यह साहित्य के मूल्यों का मसला है। और हम थोड़ी देर में इसको समझने की कोशिश करेंगे कि नैतिक मूल्य और साहित्य के मूल्य में क्या फर्क होता है। क्योंकि जब लोग बच्चों के लिए लिखना शुरू करते हैं तो वह सोचते हैं कि इस रचना को पढ़ते-पढ़ते बच्चा सुधर जाएगा और महापुरुष नहीं बनता तो कम से कम एक अच्छा इंसान तो बन ही जाएगा और इसलिए वह अपने जीवन में जो बुरे अनुभव हैं उन सब से मिला हुआ नीति का निचोड़ अपनी रचना में डालने की कोशिश करते हैं और इस प्रयास में आप कह सकते हैं इस चक्कर में रचनाएं प्रगल्भ हो जाती हैं, बड़बोली बन जाती हैं या अपनी ऊर्जा खो बैठती हैं, अपनी कल्पनाशीलता खो बैठती हैं। बहुत सचेत होकर जब कवि, लेखक नैतिक मूल्यों का आरोपण करते हैं तो बाल साहित्य थोड़ा सा कमजोर पड़ जाता है या बाल साहित्य का यह साहित्यक पक्ष कमजोर पड़ जाता है। कोई आश्चर्य नहीं है कि हमारे समय में समसे ज्यादा विकसित होने वाला, सबसे ज्यादा बिकने वाला, सबसे ज्यादा स्कूलों की लाइब्रेरियों में पहुंचने वाली विधा कौनसी है? इसके लिए कोई पुरस्कार नहीं है। आप सोच ही सकते हैं वह विधा है जीवनी। क्योंकि सरकारें यह सोचती है कि भई महापुरुषों की जीवनियां पढ़ाओगे तो कुछ तो नीचे जाएगा और बच्चों में यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे विकसित होगी कि मां मैं वीरप्रताप बनुंगा, मां मैं जवाहरलाल, खैर जवाहरलाल तो आज बनने का समय नहीं है पर महात्मा गांधी अभी भी बना जा सकता है, इत्यादि। यह जो पूरा प्रसंग है कि जीवनियों से बच्चे प्रेरणा पाएंगे यह भी बचपन को न समझ पाने से पैदा हुआ प्रसंग है। और जीवनी बच्चे के लिए किस तरह से लिखी जाए यह स्वयं बाल साहित्य के लिए एक बड़ी चुनौति है जो साधारण चुनौति नहीं है। और जो इस चुनौति से जूझना चाहते हैं उनको चाहिए कि इण्डियन प्रेस ने करीब साठ साल पहले महावीर प्रसाद द्विवेदी की जीवनी बच्चों के लिए लिखी थी। तो उसको देखें कि उन्होंने एक इतने बड़े साहित्यकार, सम्पादक के कौनसे पक्षों को उजागर किया था, बच्चों के लिए लिखते समय? जब हम किसी नेता की जीवनी लिखें या किसी बड़े संत की जीवनी लिखें तो कैसे हम उसको बच्चों के करीब पहुंचाएं यह अपने-आपमें एक बड़ा प्रसंग है। अगर हम साहित्य के मूल्यों की चर्चा कर रहे हैं, अगर नैतिक मूल्यों की चर्चा कर रहे हैं वह तो फिर महापुरुषों के जीवन में भरे पड़े हैं। और उनके संघर्षों से अगर हमें नहीं जूझना है और मानना है कि हरिशचन्द्र सत्यवादी थे इसलिए हरिशचन्द्र की जीवनी पढ़ें। तो हम फिर यह आसानी से भूला देंगे कि हरिशचन्द्र को भी सत्य बोलने की खातिर कितनी मुश्किलें हुईं। हरिशचन्द्र का युग जाहिर है कि सतयुग भले ही था पर सत्य का युग नहीं था। अगर होता तो वह इतने बड़े अपवाद न होते। यह सारे प्रसंग जो हैं इस तरह के जो मूल्यों से जुड़े हुए हैं चाहे वह सत्य का हो, ईमानदारी का हो, यह मूल्य तब ही अपनी आभा पाते हैं जब वह अपवाद बनते हैं। वह किसी आदर्श में नजर आते हैं। तो इसलिए जब हम नैतिक मूल्यों की बात करते हैं तो अपने-आप हमें इतिहास बोध को साथ रखना होगा। जिससे हमारी थोड़ी पकड़ बनी रहे इन मूल्यों के इस मूल्यावान होने की समस्या पर कि यह क्यों महत्वपूर्ण मूल्य हैं क्योंकि वैसे अगर हम इनका आरोपण बच्चों पर करेंगे तो यह बच्चों के साथ काफी बड़ा अन्याय होता है कि आप किसी बच्चे से कहें कि सदा सच बोलो। कोई दार्शनिक नहीं चाहिए हमें यह बताने के लिए कि यह बड़ा कठिन काम है। और दुनिया में ऐसे वयस्क, ऐसे लोग, दार्शनिक, राजनेता, अर्थ विज्ञानी बहुत मुश्किल से ही मिलेंगे जिन्होंने अपने जीवन में कोई झूठ नहीं बोला। और कम से कम बचपन के बारे में तो शायद ही कभी कोई कह सके। क्योंकि झूठ बोलना बचपन को एक सुरक्षा देता है और अगर

अध्यापक भी उसके झूठ को पकड़ने पर आमादा हो जाएगा तो वह शिक्षा के अधिकार के कानून का तो पालन नहीं कर सकता। क्योंकि शिक्षा का अधिकार कानून कहता है कि भई बच्चे को आतंकित मत कीजिए। अगर वह नहीं बता रहा आपको सच तो आप उस पर हावी न हो जाइए। आप उस पर इतना दबाव ना डालें कि वह टूट ही जाए। आपका तो सच बचा रहेगा पर बच्चे का क्या होगा, इत्यादि।

जिन साधनों से आप बच्चे का सच निकलवाएंगे। क्या वह वही साधन होंगे, जैसे हरियाणा की पुलिस एक कंडक्टर से सच निकलवाती है। तो यह जो पूरे प्रसंग हैं सच की बात करें या ईमानदारी की बात करें तो यह जब तक साहित्य की विधाओं में पिरोए हुए नहीं होते तब तक वह काफी निर्जीव से होते हैं और इसीलिए साहित्य लिखना इतना आसान काम नहीं होता है कि आप जीवन मूल्यों का साहित्य दे दें या लिख दें आसानी से, ऐसे लिखने वाले हुए हैं उन्होंने सैकड़ों रचनाएं भी लिखी हैं। लेकिन वह रचनाएं फिर बाल साहित्य बनने से रह जाती हैं और इसलिए यह मुद्दा आज साहित्यक मूल्यों को पहचानने का है और उनको पहचानने की दिशा में मैं आपसे उदाहरणों की मदद से चर्चा करूंगा।

बुढ़िया की रोटी, शंकर पिल्लैई की एक मशूर कृति है जो दरअसल उनकी कृति नहीं है, जो एक लोक कथा है। चिल्ड्रन्स बुक ट्रस्ट ने इसका प्रकाशन बहुत पहले किया था और मैं इसका आप कह सकते हैं कि दीवाना हूं। इसलिए हर व्याख्यान में इसका जिक्र करता हूं। हो सकता आपने पहले भी मेरे बुढ़िया की रोटी का प्रेम झेला हो। इसलिए आप क्षमा करेंगे। यह कहानी बहुत संक्षेप में सुनाना जरूरी है इस पर विचार करने के लिए।

किसी गांव के कोने पर एक बुढ़िया रहती थी। अपने घर के सामने नीम पेड़ के नीचे चुल्हा जला रखा था। उस चूल्हे पर बैठ कर उसने एक रोटी पकाई। और जैसे ही पकी वह रोटी और उसने रखी थाली में तो नीम के पेड़ के ऊपर बैठा या उसी पेड़ पर रहने वाला एक कौवा उस रोटी को अपनी चौंच में दबाकर ले गया और सीधा पेड़ की फुनगी पर बैठ गया। बुढ़िया नाराज भी हुई, निराश भी हुई। तो वह अपनी लाठी टेकते हुए पेड़ के पास पहुंची। पहले वहीं से उसने उस कौवे को सम्बोधित किया कि कौवे तू मेरी रोटी क्यों ले गया मैंने तो इतनी मुश्किल बनाई थी, इसको वापस कर। तो कौवे ने कहा मुझे भी भूख लगी है दादी मां। इसलिए उसने रोटी वापस नहीं की। तो उसने फिर पेड़ से दरख्वास्त की कि तुम इतनी जोर-जोर से अपनी डालियां हिलाओ कि कौवे का घोंसला ही नीचे गिरने लगे तो फिर वह मेरी रोटी दे देगा। पेड़ ने कहा कि मेरा इस कौवे ने क्या बिगाड़ा है वह यहीं पर रहता है उसका परिवार भी यहीं रहता है। तो मैं क्यों जोर-जोर से डालियां हिलाऊं और वैसे भी हवा नहीं चल रही है इसलिए आप किसी और से बात कीजिए। तो बुढ़िया पास में एक लकड़हारे का घर था, उसके घर पर गई और खटखटाया सुबह का समय था लकड़हारे ने दरवाजा खोला। तो बुढ़िया ने उससे कहा कि भई कौवा मेरी रोटी ले गया, पेड़ अपनी डालियां हिलाने को तैयार नहीं है तो तुम अपनी कुल्हाड़ी लेकर पेड़ को काटो तो पेड़ को डर लगेगा तुम्हें देख कर तो शायद वह अपनी डालियां हिलाए और हिलने के डर से हो सकता है कौआ मेरी रोटी वापस कर दे। तो लकड़हारे ने कहा कि माताजी मैं तो जंगल के पेड़ काटता हूं वैसे तो यह उसने नहीं कहा मैं कह रहा हूं आपसे, कि वैसे तो पेड़ काटना ही आजकल अपराध बन गया है पर गांव का पेड़ काटना तो बिलकुल ही सम्भव नहीं है मेरे लिए। कृपया आप किसी और से बात करिए। बुढ़िया बड़ी दुखी है कि लकड़हारे ने भी उसकी बात नहीं मानी। तो वहां से चली थोड़ी दूर तो एक चूहे का बिल था, उसने वहां अपनी लाठी थोड़ी सी खटखटाई चूहे के बिल पर प्रहार किया तो चूहा बाहर आया और उसने पूछा कि क्या चाहिए तो बुढ़िया ने बताया कि कौवा मेरी रोटी ले गया है, पेड़ अपनी डालिया हिलाने को तैयार नहीं है, लकड़हारा पेड़ काटने को तैयार नहीं है, तुम चलो मेरे साथ और लकड़हारे की कुल्हाड़ी की मूठ कुतर दो। अगर ऐसा होगा तो लकड़हारा पेड़ को काटने को तैयार हो जाएगा, पेड़ अपनी डालिया हिलाने को तैयार हो जाएगा, डर के मारे और कौआ मेरी रोटी वापस कर देगा। तो चूहे ने कहा, मैं तो इस तरह की चीजें खाता नहीं हूं मैं तो रोटी, पनीर इस तरह की चीजों का आदि हो गया हूं तो मैं लकड़ी की मूठ कहां कुतरूंगा, आप किसी और से बात करिए। बुढ़िया उससे भी निराश हो गई। आगे चली तो मंदिर की मुंडेर पर एक बिल्ली उसको दिखाई दी, उसने बिल्ली से अपनी दरख्वास्त की, पूरी कथा उसको सुनाई और कहा कि तुम चूहे को डराओ, चूहे के पीछे भागो तो चूहा लकड़हारे को डराएगा, लकड़हारा अपनी कुल्हाड़ी लेकर पेड़ की तरफ जाएगा, पेड़ फिर अपनी डालियां हिलाएगा और कौवा

इस डर के मारे कि उसका घोंसला न गिर जाए, मेरी रोटी वापस कर देगा। तो बिल्ली ने विचार तो किया लेकिन उसने कहा कि माताजी यह बहुत ही छोटा चूहा है, इससे मेरी भूख कहां शांत होगी और वैसे भी सुबह का समय है मैं अभी उठी भी नहीं हूं ठीक से तो उसने कोई खास रुचि नहीं दिखाई। बुढ़िया बड़ी दुखी हुई लेकिन उसको अब ध्यान आया कि वह रोज मंदिर के पीछे रहने वाले एक कुत्ते को दो रोटी खिलाती थी। तो वह वहां पहुंची और उसने कुत्ते से कहा कि भई देखो यह सब हो रहा है, न बिल्ली मेरी बात मान रही है, न चूहा मान रहा, न लकड़हारा मान रहा, न पेड़ मान रहा है और कौवा तो मान ही नहीं रहा है। उसी ने तो रोटी छिनी है। तो यह वफादार कुत्ता जो रोज रोटी खाता था और इसलिए कृतज्ञ भी था तो उसने इस इलाज का चक्र शुरू किया। वह बिल्ली के पीछे भागा, बिल्ली चूहे के पीछे भागी, बिल्ली के डर के मारे चूहा लकड़हारे के घर में घुसने लगा, उसकी कुल्हाड़ी की तरफ बढा, लकड़हारे ने अपनी कुल्हाड़ी को बचाने के लिए उसको अपने कंधे पर उठाया और पेड़ की तरफ बढ़ा और पेड़ ने बिना हवा के आराम से अपनी डालियां हिलाना शुरू कर दिया और डालियां हिलती देख कर कौवे को लगा कि उसका घोंसला न गिर जाए तो उसने चुपचाप रोटी नीचे गिरा दी। कहानी यहां खत्म होती है।

जब मैं इसको प्रायः बच्चों को सुनाता था तो इसके बाद मैं थोड़ा बहुत जोड़ देता था जो कि शंकर पिल्लैई की कहानी में नहीं है कि कौवे की रोटी जब वापस आ गई माताजी के पास तो उन्होंने सोचा चलो अब यह इसी को दे देते हैं। और उन्होंने एक और रोटी बनाई। पर यह इस कहानी में नहीं है।

इस कहानी पर थोड़ा सा विचार करें क्योंकि यह कहानी वैसे लोकथाओं की शैली में एक आम कहानी है। कि एक बहुत लम्बा एक तरह का धागा, घटनाओं की एक माला बुनी जाती है लोक कथाओं में जिसमें एक चीज, दूसरी से जुड़ी होती है। और इस तरीके से जब वह चीज वापस आती है तो वह वो घटनाएं घटती हैं जिनका पहले से सुनने वाले को इंतजार था। तो सुनाने के लिए इस तरह की कहानियां आदर्श होती हैं क्योंकि इनसे कहानी सुनाने की कला में जो अनुमान जगाने की विशेषता होती है वह इन कहानियों से पुष्ठ होती है। इसलिए इस लोक कथा में वह सारे गुण हैं और सहज ही हैं। एक ही मुख्य चरित्र है। बाकी सब चरित्र अपनी-अपनी निश्चित भूमिका में हैं तो आप कह सकते हैं कि हां यह एक बड़ी सुघड़ लोक कथा है। और शंकर पिल्लैई ने जिस तरह से इसको प्रस्तुत किया है, जिन चित्रों के साथ रखा है उन सबसे बड़ी आदर्श सी किताब यह बन गई है। पर कहानी के रूप में भी आप इसमें एक सौष्ठव देख रहे हैं, एक स्पष्टता भी देख रहे हैं वह सारी चीजें बड़ी उजागर सी होती हुई इसमें दिखाई देती हैं। और संक्षिप्त तो है ही। आप इससे चार साल के, पांच साल के बच्चों को काफी आकर्षित कर सकते हैं और छः-सात साल के बच्चों को तो बहुत ही आकर्षित कर सकते हैं। एक बार इसको सुनाने हुए मैं एक रोटी अपने घर से पोलीथीन में छिपाकर ले गया था। जब कहानी पूरी हो गई तब मैंने बच्चों से कहा कि वह जो रोटी कौवे ने गिराई वह अब मैं लाया हूं साथ में। तो मैंने पोलीथीन खोलकर बच्चों को दिखाई। हर बच्चा उस रोटी को छूने के लिए इतना लालायित था कि जैसे यह रोटी वास्तव में उस कहानी से निकल कर उनके पास पहुंची है। और उस रोटी में इस कहानी की जादुई शक्ति जैसे घुस गई थी और भाषा का एक संजीवनी का जिसको एक वरदान कहा जाता है कि भाषा एक जीवन दे देती है प्रसंगों को, किसी भी मृतप्रायः टेक्स्ट को, यह बिलकुल साक्षात दिख रहा था कि कहानी से गुजर कर दुनिया की कोई भी रोटी वहां होती तो वह बुढ़िया की रोटी ही बन जाती। वह रोटी जो कौवे ने वापस की। इस तरह इस कहानी की कई विशेषताएं बिलकुल सहज दिखाई दीं। जो आप कह सकते हैं कि हां यह साहित्य के मूल्य हैं कि जब हम उसको रचते हैं भले ही किसी पारम्परिक आधार से मिली हुई संरचना को फिर से रच रहे हों या हम अपनी तरफ से या अपने दिमाग से उपजी हुई किसी संरचना से रच रहे हों। उसमें इन मूल्यों का निर्वाह होना ही चाहिए। और यह इस तरह के मूल्य हैं जो कम से कम वाचिक साहित्य में प्रचुर मात्रा में दिखाई देते हैं। चाहे आप किसी भी क्षेत्र की लोक कथाओं का अध्ययन करें, आदिवासी लोक कथाओं का अध्ययन करें, विदेशों की लोक कथाओं का अध्ययन करें, परिकथाओं का अध्ययन करें सभी में इस तरह की भूमि दिखाई देती है। गतिशीलता और घटनाओं के बीच लगातार बना हुआ बहुत ही गतिमान संघर्ष और एक समस्या से शुरू करके उसका इलाज अन्त तक हो जाने की स्थिति बनाना और वह भी एक संतोषप्रद हल बनाना। जिससे कुछ सीखने की जरूरत नहीं है, केवल यह संतोष

मिलता है कि हां यह हुआ। यह सारी चीजें इस कहानी में आप देख सकते हैं। तो यह साहित्य के बड़े आम मूल्य हैं और जो लोग कहानियां आम तौर पर लिखते हैं चाहे बड़ों के लिए, छोटों के लिए उनके लिए यह आम हैं। पर मैं जिस साहित्यक मूल्य की तरफ यहां इशारा करना चाहता था वह थोड़ा सा भिन्न है। आप इस कहानी की इस संरचना पर विचार करें कि कहानी के पहले ही क्षण में बनी हुई रोटी को कौवा छीन कर ले गया। उठा कर ले गया और पेड़ पर बैठ गया और इसके बाद यह घटनाएं घटती हैं कि आखिर बुढ़िया है धीरे-धीरे चलती होगी। तो वह पेड़ के पास, फिर पेड़ से लकड़हारे के पास, लकड़हारे से चूहे के पास, चूहे से बिल्ली के पास, बिल्ली से कुत्ते के पास जाती है। कितना समय लगता होगा? आप सोच सकते हैं कम से कम आज की तरह अगर गिनें भी उस समय को, मापें भी तो शायद दस-पन्द्रह मीनिट तो लगा ही होगा, या जितना भी समय लगा हो, मान लीजिए पांच मिनट ही लगा हो। लेकिन कहानी की इस बुनावट में महत्वपूर्ण यह है कि इस घटनाक्रम के दौरान कौवे ने सब्र दिखाया। कैवा अभी वह रोटी लिए हुए बैठा है कि यह जो बुढ़िया की अर्जी है यह सर्वोच्च सेक्रेटरी तक पहुंचेगी तब तक मैं वेट करूंगा कि वह इसका हल निकालती है कि नहीं। और तब मैं खाऊंगा जब यह क्लीयर हो जाएगा कि बुढ़िया की रोटी मुझे मिल सकती है कि नहीं। एक तरह से वह सुप्रिम कोर्ट के जजमेंट की प्रतिक्षा में है। और तब तक वह रोटी नहीं खाता है और यह जो उसकी विशेषता है कौवे के धैर्य की यह कहानी उसको उजागर नहीं कर रही है। यह उसकी संरचना में, उसके ढांचे में पिरोई हुई चीज है तो कहानी का यह शीषर्क देना कि 'कौवे का धैर्य' यह एकदम गलत होगा। क्योंकि यह कहानी कौवे की है ही नहीं, यह कहानी तो बुढ़िया की कहानी है जो चाहती तो सबसे पहले ही कुत्ते के पास जाती लेकिन उसने प्रोपर चेन का निर्वाह किया कि गांव के सभी जो ताकत की दृष्टि से कुत्ते से नीचे स्थान रखते हैं, कुत्ता तो उसका ही कृतज्ञ था, उसका वफादार था। चाहे तो वह सीधे ही उसको कह देती। जैसे बहुत से लोग सीधे मंत्री के पास जाते हैं और मंत्री समझाते हैं कि भई आपने नीचे वाले उपायों का प्रयोग किया कि नहीं किया। तो समाज के अपने सोपानक्रम में पिरोई हुई रचना है और बुढ़िया को जो एक नागरिक के रूप में आप देखेंगे तो आप कहेंगे कि एक आदर्श नागरिक बुढ़िया है और आप कहेंगे कि इसमें एक ही कमी है कि इसने अपना आधार कार्ड नहीं बनवाया वरना यह एक बिलकुल आदर्श बुढ़िया थी। जिसने सभी से पूछ कर देख लिया और उसके बाद उसने उस आतंक को एक तरह से छोड़ा कि ठीक है भई अब तो आतंक का ही रास्ता अपनाना पड़ेगा। तो फिर उसने कुत्ते के आतंक से अपनी पूरी समस्या सुलझाई। इस तरह से देखेंगे तो यह कहानी एक बतंगड़ बनती है, चुटकुला बनती है यह कहानी कहानी नहीं रह जाती। कहानी यह तभी तक है जब तक इसमें कौवे का यह धैर्य छिपा हुआ है, पिरोया हुआ है कि कौवा पूरे दृश्य को देखते हुए इंतजार कर रहा है। यह केवल हम अपनी चेतना के जरिये इसको निकाल के दिखा रहे हैं आपको और आपको जब निकाल के दिखा रहे हैं तो मैं देख रहा हूं कि आपको इससे कुछ आनन्द भी आ रहा है, मजा आ रहा है। यह लोक कथा की आतंरिक शक्ति है और यह साहित्य में होती है। फिल्मों में कई दृश्य होते हैं, जिनके बीच में एक लम्बा गैप होता है। उस दौरान कोई घटना नहीं घटती है। जबकि हम जानते हैं कि जीवन के हर मोड़ पर एक घटना घट रही होती है, लेकिन साहित्य जब जीवन का चित्रण करता है तो वह अपने-आप इस तरह के छोटे-छोटे हिस्से रचता है जिनमें पढ़ते समय हमें लगता है कि यहां अभी कुछ नहीं हो रहा है, जबकि वहां कुछ हो रहा होता है। और आधुनिक साहित्य कई बार उन हिस्सों को जांचने की कोशिश करता है। तो यह साहित्य की एक बहुत पुरानी शिल्प कला का एक छोटा-सा उदाहरण है आपके सामने। जिसकी मदद से आज शाम साहित्य के मूल्यों की चर्चा कुछ और साकार हो सकती है।

अगर हम इस पर सोचना शुरू करें तो हम कह सकते हैं कि हां शायद साहित्य की हर विधा में इस तरह के कृतिपरक मूल्य छिपे हुए हैं। जो कि साहित्य के निर्माण में ही काम आते हैं। वह अलग से नहीं दिखाए जा सकते और इसलिए जब हम बाल-साहित्य से यह अपेक्षा करते हैं कि वह बच्चों को जीवन के संस्कार दे, या जीवन के मूल्य दे। आजकल तो कहते हैं कि जीवन के कौशल भी दे। मेरे ही समय में एनसीईआरटी में यह बहुत बोल-बाला था। लाईफ स्किल्स का। अब समझाना बड़ा मुश्किल था कि भई हरेक स्किल लाईफ की ही है, कोई डेथ स्किल्स तो हैं नहीं। तो यह जो पूरा मसला है यह हमें लौटाता है साहित्य की आंतरिक समृद्धि की तरफ कि जब हम साहित्य के बारे में सोच रहे हैं और खास कर बाल साहित्य के बारे में सोच रहे हैं तो हमें साहित्य की इस समृद्धि को स्वीकार करना चाहिए कि जब

कोई रचना पुख्ता होती है, अपने-आप में पूर्ण होती है तो उसमें, उसकी संरचना में ही ऐसे मूल्य होते हैं, जिनकी रक्षा वह स्वयं करता है। साहित्य को किसी की रक्षा की दरकार नहीं है। यद्यपि आप कह सकते हैं कि हां साहित्यक कृतियां लुप्त ना हो जाएं। एक ऐसी स्थिति में जब वाचिक परम्परा रही नहीं और मुद्रित प्रकाशित सामग्री के संरक्षण का इंतजाम सकारों ने ही छोड़-सा दिया है। मैं अभी जिस जिले के पुस्तकाल को देख कर आ रहा हूं, उसको वार्षिक कोई बीस हजार रुपये मिलते हैं। सोचकर ताज्जुब होता है कि आज के समय में कैसे साहित्य का संरक्षण होगा। कैसे वह पहुंचेगा शहरों में। अगर पुस्तकालय जैसी महत्वपूर्ण संस्था का इतना अनादर हो रहा है।

मैंने इस पूरे प्रसंग का जिक्र इस कहानी की मदद से इसीलिए किया जिससे कि हम नैतिक मूल्यों और साहित्य के मूल्यों में फर्क कर सकें। और जहां तक संस्कार का सवाल है तो संस्कार तो साहित्य का अनिवार्य हिस्सा इसलिए है क्योंकि साहित्य के स्पर्श से ही वह संस्कार पैदा होता है। जिसको वह साहित्य का स्पर्श नहीं मिला। ऐसे व्यक्ति की हालांकि कल्पना करना कुछ मुश्किल ही है। क्योंकि भारत जैसे वाचिक संस्कृति से महमहाते देश में ऐसे बहुत शायद अपवाद ही होते होंगे, जिन्होंने कभी रामकथा नहीं सुनी या जिन्होंने कभी कृष्ण लीला नहीं देखी। लेकिन आज के समय में यह स्थितियां हैं। एक सर्वेक्षण अभी किसी ने किया था, जिसमें पता लगा कि उसको रामायण की मुख्य कहानी के भी कई हिस्से नहीं मालूम थे। और आज के समय में आपको गांव में भी, शहरों में भी ऐसे अनेक लोग मिल जाएंगे। जबकि यह ऐसी कहानी है जो जन-जन में श्रुति के स्तर पर मौजूद थी। और तुलसी अभी हाल तक इतने बड़े लोकप्रिय कवि इसीलिए थे क्योंकि उनको जानने, याद करने के लिए पढ़ने की जरूरत नहीं होती थी। पर आज के समय में साहित्य का अगर कोई सबसे बड़ा संस्कार है तो वह पढ़ने का ही संस्कार है। और अगर शिक्षा का उद्देश्य साक्षर बनाना नहीं है, शिक्षा का उद्देश्य कुछ ज्यादा बड़ा है तो वह साहित्य के जरिये ही पूरा हो सकता है। क्योंकि साहित्य साक्षर नहीं बनाता। साहित्य तो पाठक बनाता है और अगर वह पाठक नहीं बना पाता तो फिर वह असफल हो जाता है। और फिर वह शिक्षा को भी असफलता के दरवाजे पर जाकर छोड़ देता है। तो इसलिए ऐसा पाठक बनाना जो साहित्य का भूखा हो, साहित्य की उसको जरूरत महसूस होती हो। और जहां साहित्य बहुत कम मात्रा में हो वहां थोड़े से गुजारा कर सकता हो। बार-बार पढ़ता हो या ढूंढ-ढूढ़ कर पढ़ता हो। यही साहित्य का संसार है। क्योंकि साहित्य का जब चस्का लग जाता है तो फिर और कोई चीज उस काम नहीं आती। सिनेमा से या वीडियो से या किसी और चीज से उस चस्के को शांत नहीं किया जा सकता, जो साहित्य से पैदा होता है।

इस मसले में बाल साहित्य की एक बड़ी भूमिका है। भले ही स्कूल इस भूमिका के निर्वाह के लिए आज हमारे पास उस तरह से तैयार नहीं हैं। खासकर के हिन्दी की घण्टी तो बिलकुल ही तैयार नहीं है। क्योंकि हिन्दी कई और दुर्घटनाओं का शिकार होकर आज साहित्य में प्रवृत्त करने में बच्चों को असमर्थ रहती है तो यह एक अलग ही प्रसंग है। और हिन्दी अंग्रेजी के झगड़े में आज शाम हमको नहीं गवानी चाहिए क्योंकि यह झगड़ा अगर दूर हो सकता तो आज शाम से पहले ही दूर हो चुका होता। तो हम लोग क्यों इस चक्कर में पड़ें। लेकिन जो साहित्य का पाठक बनाने की भूमिका में योगदान है वह हमारे लिए आज एक महत्वपूर्ण संस्कार है। इस अर्थ में साहित्य पढ़ने की आदत पैदा करता है कि साहित्य से रस मिलता है। ऐसा रस मिलता है जो किसी और चीज से नहीं मिल सकता। जो अर्थ ग्रहण से शुरू होता और अर्थ को गहराता जाता है। जैसे-जैसे हम बड़े होते हैं पुरानी पढ़ी हुई रचनाओं में ही हमें गहरा अर्थ मिलने लगता है और हम उनको गुनगुना कर, जैसे गानों को गुन-गुन कर नए-नए अर्थ बुनते हैं। फिल्मी गीत हों, चाहे बच्चों के गीत हों या किसी और तरह से हम तक पहुंची हुई चौपाइयां हों, कुछ भी हों स्मृति में साहित्य जगह बना लेता है और इसीलिए पढ़ा हुआ साहित्य आज के समय में जब प्रकाशित सामग्री का बोलबाला है और प्रकाशित दुनिया हमारे चारों तरफ है सिर्फ साक्षरता ही आज उद्देश्य नहीं रह गई, हमें बाल साहित्य की इस भूमिका को स्वीकार करना चाहिए कि यह साहित्यिक मूल्यों की स्थापना का और साहित्यिक संस्कारों की स्थापना का एक बड़ा जरिया हो सकता है।

चलते-चलाते समग्रता पर बात करें। साहित्य अपने-आपमें एक समग्र ज्ञान राशि है। किस चीज का ज्ञान है यह? महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तो कह दिया था कि ज्ञान राशि का असंचित कोष है। शायद इस संदर्भ में कहा था कि जो भी ज्ञान को प्रस्तुत करेगा, उसको ज्ञान की गरीमा माननी होगी। चाहे वह अर्थशास्त्र की किताब लिख रहा हो, भूगोल की, विज्ञान

की या कविता, कहानी लिख रहा हो। तो एक बड़ी आप कह सकते हैं कि इसमें गहन सलाह है एक बड़े हिन्दी संपादक की ओर से कि जब आप लिखते हैं, उस क्षेत्र के बारे में जिसके आप विशेषज्ञ नहीं तो कम से कम कुछ जानते हैं उसके बारे में। तो इस तरह लिखिए कि उस क्षेत्र की, उसके ज्ञान की गरिमा बने। क्योंकि वह गरिमा ही है जो आपको पाठक देगी। और अगर आपने उसको बहुत ही छिछले ढंग से लिखा या आपकी वाक्य रचना में, आपके शब्द चयन में तरह-तरह के दोष हैं तो पाठक के मन में आप पहुंचेंगे कि नहीं पता नहीं, पर आप जिस विषय पर लिख रहे हैं उसकी गरिमा ही खण्डित हो जाएगी। तो एक तरह से यह रचनात्मक या ललित लेखन जिसको आप क्रिएटिव राइटिंग कहते हैं, उसके और जिसको आप नॉन फिक्शन आज कहते हैं या कि ज्ञान परख लेखन विज्ञान का समाज विज्ञान का, इनके बीच के फांसले को दूर करने वाली एक बात महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हमको दी है। और खासकर इसलिए महत्वूपर्ण है कि जब आप बच्चे के लिए लिखते हैं तो सब तरह का ज्ञान बाल साहित्य बनता है। छोटे बच्चे को अगर आप गणित भी पढ़ा रहे हैं या गणित के बारे में भी लिख रहे हैं तो वह तभी ग्राह्य बनता है, रुचि जगाता या पढ़ने का संस्कार और फिर गणित का संस्कार पैदा करता है जब वह ऐसी भाषा में प्रस्तुत किया गया हो, सोच-समझकर बनाए गए प्रश्नों में आ सका हो कि उनमें साहित्य के मूल्य मौजूद रहें। या कि अच्छी तरह लिखने की बात उसमें बच्चों को महसूस हो। क्योंकि बच्चे हटा नहीं सकते अपने सामने एक बहुत ही घटिया पुस्तक आई है अगर, तो उसको हटा तो सकते नहीं हैं। खासकर अगर वह राज्य शासन ने प्रस्तावित की है। अभी परसों ही मुझे एक छोटी बच्ची को पढ़ाना पड़ा, एक पाठ है कक्षा ग्यारह की मध्य प्रदेश की किताब में 'कर्म कौशल'। अगर वह पीएचडी के किसी इंडीवीज्युअलाइज्ड कोर्स में भी होता तो मैं तो यही कहता कि भई किसी और से समझो। लेकिन चूंकि स्कूल के कोर्स में लगा रखा है और जिन्होंने लगाया है उन्होंने कुछ सोचकर ही लगाया होगा। तो काफी बड़ी चुनौति थी कि एक तो उस लड़की को कैसे समझाऊं और फिर दूसरी अपनी भाषा की रक्षा कैसे करूं क्योंकि वह जो गद्य है वह हिन्दी का ऐसा गद्य नहीं है जिस पर कोई भी हिन्दी भाषी गर्व कर सके क्योंकि वह अपारदर्शी गद्य है और कहीं पहुंचाता नहीं है ना वह आकर्षण पैदा करता है। वह क्यों जीवित है? वह इसलिए जीवित है क्योंकि परीक्षा से सब डरते हैं। इसलिए वह लड़की भी पढ़ना चाहती थी, याद करना था उसको दिन तक। तो यह जो पूरी समस्याएं हैं इनके मद्दे नजर हमें साहित्य के इस बहुत बड़े फैलाव पर इसका जो बेलौस रूप है कि यह हर विषय पर लागू होता है। और उसमें जो रचनात्मक लेखन है, या कि ललित लेखन है, उसकी तो बहुत बड़ी भूमिका है क्योंकि वह एक मिसाल पेश करता है। कवि, लेखक, कहानी लेखक, उपन्यास लेखक यह मिसाल पेश करते हैं कि जो अन्य विषयों के लेखक हैं वह किस तरह लिखें। क्योंकि वह इन्हीं को पढ़कर सीखेंगे कि कैसे हम बच्चों तक पहुंच सकते हैं। साहित्य की समग्रता का यह दर्शन जिसमें न केवल सभी ज्ञान-विज्ञान के विषयों का ज्ञान और कौशल का, आज कौशल को अलग करने की मुहिम चल पड़ी है, वह भी एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि क्या आप कौशल को ज्ञान से अलग कर सकते हैं? साहित्य इन सब चीजों पर हमें नये सिरे से सोचने का मौका देता है। क्योंकि साहित्य के भीतर साहित्य रचने का कौशल होता है। उसको बाहर रहकर नहीं समझा जा सकता है बल्कि साहित्य को समझने का जो कौशल है वह भी साहित्य में घुसकर ही समझ में आता है। इसी तरह से साहित्य की समग्रता में जीवन की हरेक अवस्था शामिल है। बहुत से लोग विवादग्रस्त इसको बना देते हैं कि अगर आप कहें कि बच्चों को तो केवल आनन्दायी अनुभव मिलने चाहिए। स्वीडन की प्रसिद्ध बाल लेखिका एस्ट्रिड लिंडग्रेन ने मृत्यु के बारे में एक उपन्यास लिखा है बच्चों के लिए। अगर वह कहीं हिन्दी में अनुदित हो जाए तो अच्छा खासा विवाद टीवी की बहसों में हो जाएगा, कि क्या यह होना चाहिए। क्योंकि मुझे यह अनुभव है कि हम लोगों ने दिल्ली की किताबें एससीईआरटी में बनाते समय एनसीईआरटी से बहुत पहले यह बनाते समय सुभद्रा कुमारी चौहान की एक कविता रख दी थी, चुनकर के। वह कविता है 'मैं मुरझाया हुआ फूल हूं, मुझको और सताना मत, जीवन की अंतिम घड़ियों में मुझको और रुलाना मत' तो दिल्ली की विधानसभा में आजकल तो कुछ और ही मतभेद होते हैं, उस समय हमारी कविता पर विवाद हुआ कि इस कविता के जरिये आखिर हम क्या बताना चाहते हैं? और हम लोग अगर होते विधानसभा में तो यही कहते कि हम वह बताना चाहते हैं जो हर बच्चा जानता है कि जीवन में मृत्यु भी होती है। और यह मृत्यु इस फूल की जिस समय हो रही है उस समय हमें उसको नहीं छेड़ना चाहिए। बहुत ही कोमल, मधुर कविता है और एक बहुत बड़ी कवयित्री की लिखी हुई है। कम से कम उसके प्रति

आदर के कारण हमें उसको जगह देनी ही चाहिए। रमेश चन्द शाह की एक कविता है जो मुझे बहुत समय से बहुत प्रिय है। जब पहली बार छपी थी तो मैंने शाह साहब को लिखा भी था कि अगर आप और कुछ भी नहीं लिखें तो भी आपका नाम साहित्य ना सही लेकिन बाल साहित्य में तो अमर रहेगा। 'काली छत पर पसरे काली डालों वाले नीम के, नीचे दोपहरी में ऐसे झोंके लगे अफीम के, एक फिसल पट्टी उग आई आसमान के छोर पर, दो बच्चे फिर जाने कितने दौड़े उनके शोर पर... इत्यादि।' अब इस कविता कोई अगर राज्य या केन्द्र सरकार या कहीं कोई कोई पाठ्यपुस्तक में रखने की जहमत उठाए कोई इसका जोखिम उठाए। तो आप मान कर चलिए कि इस देश की सभी विधायिकाएं एकदम स्पन्दित हो उठेंगी। क्योंकि यह राष्ट्रीय सुरक्षा का मसला है कि इसमें अफीम का जिक्र आया है। और अफीम का जिक्र अगर आप लोगों की नींद के झोकों के संदर्भ में करेंगे तो सबसे असंवेदनशील जो नेता है वह भी कहेगा कि भई यह तो बच्चों को एकदम गलत मूल्य सिखाया जा रहा है कि अफीम के जरिये सोना। जबकि इसमें अफीम एक रूपक है। नीम के नीचे दोपहरी में जो नींद आती है या आती थी कभी जब तक नीम थे, जब तक उन पर कौवे बैठते थे। उस समय का वर्णन है, जिसमें समय लूं के थपेड़ों के बीच में नीम की छाया में लेटा हुआ एक आदमी एक सपने से देख रहा है और उनको बहुत सुन्दर भाषा में रमेश चन्द शाह ने एक लम्बी कविता में चित्रित किया है। काफी प्रयोगशील रचना है। हिन्दी के बाल साहित्य पर गौर करें तो बहुत से कवि हमारे सामने जीवन के हर चरण की और जीवन के हर पहलू की थोड़ी-थोड़ी छटा को सामने लाने की कोशिश करते हुए दिखाई देते हैं। बहुत से पहलू हैं जो अभी भी अछूते हैं। चूंकि कवि की दृष्टि हर जगह जाती है और बाल साहित्य के, कविता के समृद्धि के दौर में काफी कुछ जीवन के बहुत से पहलुओं पर कविताएं लिखी गईं। फिर भी कई क्षेत्र हैं जो नहीं हैं। लेकिन जीवन की समग्रता साहित्य में दिखाई देती है यह तो निश्चित रूप से हम अपनी भाषा के बारे में कह सकते हैं। और आज मुझे लगता है कि इस समग्रता को बनाए रखने का और इसके संवर्द्धन का, इसको और ज्यादा मजबूत बनाने का समय है। जबकि हमसे कहा जा रहा है कि जीवन के कुछ ही पक्षों पर ध्यान दीजिए और बाकी पक्षों को छोड़ दीजिए क्योंकि यह राष्ट्र को कमजोर बनाते हैं। उस अर्थ में यह राष्ट्र निर्माण का मसला नहीं है। वैसे भी राष्ट्र निर्माण हो चुका है। राष्ट्र इस समय अपने आंतरिक जगत के तनावों से जूझ रहा है। निर्मिति-सी बन गई है। अगर इसको साहित्य की दृष्टि से देखें तो यह भी एक बड़े कवि, लेखक, उपन्यासकार के लिए एक बहुत बड़ा समय है। जब भारत अपने को पुनर्परिभाषित करने की अनेक प्रक्रियाओं से जूझ रहा है और इससे ज्यादा कोई बेहतर समय नहीं होता है साहित्य के इतिहास में। जब पुरानी परिभाषाएं या तो खण्डित होती है या खतरों से गुजरती हैं। नई परिभाषाएं गढ़ी नहीं गई होती हैं ऐसे समय में साहित्य महमहाता है। और बाल साहित्य का इतिहास अगर आप ब्रिटेन में देखें तो वह निश्चित रूप से ऐसा ही समय है। जैसा कि 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी बाल साहित्य का था। इसमें लुई केरॉल और अनेक लेखक हुए जिन्होंने वयस्क समाज के अनेक अंतर्विरोधों को बाल साहित्य के जरिये उभारा क्योंकि उस समय के विमर्शों में बहुत से अन्तर्विरोधों को सीधे-सीधे वयस्क हित में उभारने की गुंजाइश नहीं बची थी। यही सोवियत संघ के बाल साहित्य की काफी बड़ी कहानी है कि जब खुले आम कोई चीज कहना संभव नहीं था तो बाल साहित्य के जरिये बहुत सी बातें जीवन की समग्रता को चिह्नित करने वाली सामने आईं। हमारे सामने भी शायद एक ऐसा ही समय है और मुझे लगता है कि आप सब जो कि बाल साहित्य के लिए समर्पित हैं, इस संस्था से जुड़े हैं और आज शाम अपना समय निकाल कर यहां आएं हैं तो इस मुद्दे पर विचार करेंगे। बहुत धन्यवाद! ◆

(यह व्याख्यान तक्षशिला के बालसाहित्य एवं कला केन्द्र इकतारा द्वारा भोपाल में आयोजित प्लूटो कार्यशाला के दौरान दिया गया था। प्लूटो एक बाल पत्रिका है जो हिन्दी में बाल साहित्य के क्षेत्र में उत्कृष्ट कार्य कर रही है और समय-समय पर लेखकों के लिए कार्यशालाओं का आयोजन करती रहती है। प्रो. कृष्ण कुमार को तक्षशिला एजूकेशनल सोसाइटी ने इस वर्ष सृजन पीठ की फैलोशिप प्रदान की है। यह व्याख्यान उसी का हिस्सा है, इसे शिक्षा विमर्श को उपलब्ध करवाने के लिए हम इकतारा के आभारी हैं।)

कृष्ण कुमार : जाने-माने शिक्षाविद्, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् के पूर्व निदेशक और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय शिक्षण संस्थान से सेवानिवृत्त।